



नाटककार चतुर्भुज

अशोक प्रियदर्शी

'मुद्राराक्षस' नाटक प्रारम्भ होने से एक घंटा पूर्व अचानक मुझे बाबूजी का आदेश मिला—'सारी व्यवस्था छोड़कर तुरंत तुम सिद्धार्थक की भूमिका करने के लिए मेकअप ले लो और ड्रेस पहन लो।' जब तक मैं उनसे कुछ प्रश्न करता तब तक वे बाहर निकल कर बिहार के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल डॉ. ए.आर. किदवई के स्वागतार्थ मेन गेट पर खड़े हो गये थे। वह अविस्मरणीय तिथि थी ३० नवम्बर १९७६ ई. और अवसर था मगध कलाकार नाट्य संस्था के २७ वें वार्षिकोत्सव के मौके पर तीसरी-चौथी शताब्दी में विशाखदत्त रचित संस्कृत की अमर रचना 'मुद्राराक्षसम्' का डॉ. चतुर्भुज द्वारा रूपान्तरित हिन्दी नाटक 'मुद्राराक्षस' के मंचन का। वरीय कलाकार और आवाज के जादूगर भगवान प्रसाद उस नाटक के निर्देशक थे एवं स्वयं वे चाणक्य की भूमिका भी कर रहे थे। सिद्धार्थक की भूमिका उनके पुत्र विनोद कुमार सिन्हा को दिया गया था। लेकिन पता नहीं कैसे वे बिना किसी को सूचित किए एक दिन पूर्व ही रात की गाड़ी से पटना से बाहर चले गये। भारतीय नृत्य कला मंदिर, पटना का हॉल दर्शकों से पूरा भरा था। संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा के कुलपति डॉ. रामकरण शर्मा, पटना विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा आगे की पंक्ति में बैठे थे। ऐन मौके पर भगवान प्रसाद के घबराहट भरे चेहरे को बाबूजी ने देख लिया। पूछने पर स्थिति की जानकारी ली और तुरत ही वीटो पावर लगाकर उन्होंने मुझे उपर्युक्त आदेश दिया था। अनुशासन प्रिय बाबूजी नाट्य मंचन के क्षेत्र में हमेशा अग्रसोची बने रहे। ड्रेस पहने और मेकअप लिए किसी भी कलाकार को अनुशासनहीन पाकर अविलम्ब ठोस निर्णय लेने के लिए वे तैयार रहते थे। सिलाव में मीरकासिम नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व मेरे मझले चाचा चक्रधर को ड्रेस खुलवा दिया और अविलम्ब अपनी नजरों से दूर हटा दिया। आधी रात में सिलाव से पैदल चलकर उन्हें नालन्दा आवास आना पड़ा। नाटक की तैयारी से पूर्व वे मुझे, स्वयं को और मेरे छोटे चाचा अनन्त कुमार को किसी भी भूमिका में नहीं रखते थे। ऐसे आपातकालीन क्षणों को भांप कर वे मुझे, और छोटे चाचा को सावधान किए रहते थे। पटना में बहादुरशाह नाटक के झुमरी तिलैया (कोडरमा) में मुख्यमंत्री बाढ़ राहत कोष के लिए तैयार किए गये नाटक 'सिराजुददौला' में बाबूजी ने स्वयं डेक और कलाईव की भूमिका की। मंचन से एक दिन पूर्व निर्धारित स्थल पर सेट निर्माण, ग्रीन रूम की तैयारी, कलाकारों

के ठहरने, भोजन, एवं आवागमन व्यवस्था हेतु एक विश्वसनीय एडवांस टीम वे भेज देते थे। संस्था के महासचिव भागवत प्रसाद श्रीवास्तव के नेतृत्व में उस टीम में रमेशचन्द्र श्रीवास्तव, जगदीश प्रसाद, श्याम सुन्दर होते थे। कलाकारों के साथ मंचन के प्रौप्स की तैयारी, नाटक के दौरान स्पेशल इफेक्ट्स की तैयारी कर मैं बाबूजी के साथ आठ-दस दिनों के लिए साथ रहता था। इस बात पर मेरा विशेष ध्यान रहता था कि कौन से चरित्र के पैर में कौन से राजसी जूते फिट रहेंगे। अच्छे कंडीशन में राजसी जूते होने चाहिए। अंग्रेज की भूमिका के लिए जूते चमचमाते हुए रखने की जिम्मेवारी मेरी होती थी। इसके लिए एक बार बाबूजी के क्रोध का शिकार मैं बन चुका था। राजगीर में आयोजित 'कुँवर सिंह' नाटक में बाबूजी कमिश्नर विलियम टेलर की भूमिका का मेकअप लेकर ड्रेस पहन चुके थे। उन्होंने बूट की मांग की। बूट डोरमेट्री में ही छूट गया था। अब उनका क्रोध सातवें आसमान पर था। मेरी घिग्घी बंधी थी। क्या करता? ब्रिटिश सिपाही का ड्रेस मैं ले चुका था इसलिए ग्रीन रूम से मेरा बाहर जाना वर्जित था। किसी तरह मेरे छोटे चाचा अनन्त कुमार ने डोरमेट्री से जूता लाकर उनके सामने रखा और बाबूजी के क्रोध से मेरा पीछा छुड़ाया।

विरासत स्वरूप मुझे बाबूजी से नाटक-रंगमंच-और लेखन मिला। जब इस संसार में मेरी आँखें खुली तब से इन विधाओं को मैं अपने इर्द-गिर्द मंडराते देखा। समझ आई तब ज्ञात हुआ कि विद्वत जनों ने नाटक विधा को पंचम वेद से विभूषित किया है। उन दिनों बाबूजी ब्रिटिश कम्पनी के मार्टिन रेलवे में बख्तियारपुर-राजगीर छोटी लाईन के बीच चलने वाली रेल-सेवा की नौकरी छोड़कर नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा की नौकरी से जुड़ गये थे। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त बौद्ध विद्वान भिक्षु जगदीश कश्यप उन दिनों केन्द्र सरकार की एक योजना के तहत विभिन्न विदेशी भाषाओं में उपलब्ध पालि त्रिपिटक का देवनागरीकरण के कार्य में संलग्न थे। विद्वान बौद्ध भिक्षु जगदीश कश्यप के नेतृत्व में विदेशी भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वानों की एक कमिटी गठित की गयी थी। त्रिपिटक सम्पादन मंडल की कमिटी अलग थी जिसमें बाबू जी का भी नाम जुड़ा था। नालन्दा के क्वार्टर में अपना बालपन व्यतीत करते हुए मेरी समझ के बाहर था कि बाबूजी रेल-सेवा में हैं अथवा नव नालन्दा महाविहार जैसे शिक्षण संस्थान सेवा में, क्योंकि दोनों संस्थानों के कर्मचारियों का प्रति दिन मेरे आवास पर आगमन होता रहता था और बाबूजी को वे सभी समान भाव से सम्मान प्रदान करते थे। मैं भी रोज सुबह-सुबह हाथ-मुँह धोने के बाद सीधे खाकी बाबा (भिक्षु जगदीश कश्यप) के मंदिर आवास में पहुँच कर उनसे मोतीचूर का लड्डू लेता और हाथ-मुँह गंदा किए घर वापस लौट आता जिसके लिए माँ से मुझे चांटे भी लगते। क्वार्टर के नजदीक से ही ट्रेन गुजरती थी। मौका मिलते ही अपने मित्रों के साथ ट्रेन की किसी बॉगी में जाकर बैठ जाता। रेलवे के सभी स्टाफ परिचित थे इसलिए टिकट लेने का कोई प्रश्न ही नहीं था। राजगीर पहुँच दौड़कर ब्रह्म कुंड में डुबकी लगाता। इस बात से सावधान रहता था कि ट्रेन लौटने के पहले ही मुझे फिर ट्रेन में बैठ जाना है। भीगे बदन ही ट्रेन में आकर बैठ जाता। रेलवे के स्टाफ से नजरें बचाए रहता था ताकि मेरी शिकायत बाबूजी तक नहीं पहुँचे।

नाटक के पूर्वाभ्यास में मैं लगभग रोज दिन उपस्थित रहता था। इसलिए नहीं कि नाटक की समझ मुझे हो गयी थी, बल्कि इसलिए पहुँचा रहता था कि विभिन्न पात्रों के जोशीले डायलॉग सुनना, विभिन्न रसों में उनके हाव-भाव, अंग संचालन देखना मुझे अच्छा लगता था। इनके अलावा मेरे लिए मुख्य आकर्षण होता था पूर्वाभ्यास के बाद वितरित किए गये नाश्ते का पैकेट का हकदार होना। नाटक से मेरा जुड़ाव तब से जो बना वह आज तक जारी है।

३१ जनवरी १९८६ ई. को बाबू जी आकाशवाणी के केन्द्र निदेशक पद से सेवा निवृत्त हुए। लेकिन आज तक कभी किसी के मुँह से बाबू जी के प्रति 'केन्द्र निदेशक' का संबोधन नहीं सुना, सभी नाटककार चतुर्भुज के नाम से अथवा गुरुजी के नाम से ही उन्हें संबोधित करते रहे। सच भी है, लगभग पचास ऐतिहासिक रंगमंचीय नाटक प्रदान कर उन्होंने रंग-संस्थाओं को समृद्ध किया। नाट्य प्रदर्शन पर लगने वाले मनोरंजन कर को बिहार सरकार से मिलकर रंगमंच को मनोरंजनकर मुक्त कराया। नाट्य प्रतिभाओं को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने के उद्देश्य से और उन्हें रोजी-रोटी से जोड़ने के उद्देश्य से ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा में एम.ए. स्तर पर नाट्य विषय की स्वतंत्र पढ़ाई प्रारम्भ करायी। आकाशवाणी से सेवा निवृत्त होने के बाद उन्होंने वहाँ प्रथम शिक्षक के रूप में कार्य किया। कई विद्यार्थियों ने अलग-अलग विश्वविद्यालयों से बाबूजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोध कार्य किया और एम.फिल./डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। जब कोई ऐसा विद्यार्थी मेरे आवास पर पहुँच कर उनके चरण-स्पर्श करता था तब उनकी निगाह बोलती नजर आती—'मैं तो मात्र चतुर्भुज एम.ए. ही हूँ। ढाई साल दरभंगा में एम. ए. के विद्यार्थियों को शिक्षित करने के बाद जब वे पटना आकर रहने लगे तब उन्होंने योजना बनाई हिन्दी में एक पुस्तक लिखने की— 'देश-विदेश के नाटकों का इतिहास'। केन्द्र सरकार की ओर से इस कार्य के लिए बाबूजी को सीनियर फेलोशिप भी प्रदान किया गया। जब पूरी पुस्तक तैयार हो गयी और ए.एन. कॉलेज, पटना के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. कपिलदेव सिंह ने पाण्डुलिपि देखी तब उन्होंने बाबूजी को सुझाव दिया कि आप इस शोध कार्य पर ही मगध विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. के लिए अप्लाई करें। लेकिन विषय इतना वृहत् नहीं रखें। संक्षिप्त विषय होगा—'प्रमुख भारतीय भाषाओं के नाटक और प्राचीन यूनानी नाटक—एक अध्ययन'। सेवा निवृत्ति के दस वर्षों के बाद १९९६ ई. में मगध विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की गयी। कालान्तर में 'प्रमुख भारतीय और विदेशी भाषाओं के नाटकों का इतिहास' पुस्तक दिल्ली के प्रकाशक ने छापा।

प्रतिदिन रात में खाना खाते समय बाबू जी अपने जीवन के अतीत की घटनाओं को सुनाते थे। कभी कभी थाली के सामने ठहाके लगते थे और कभी गंभीरता का माहौल बनता था। जानकारी मिली कि उनके पिताश्री अर्थात् मेरे दादाजी (मुंशी प्रयाग नारायण) बख्तियारपुर में स्थापित पुरानी नाट्य संस्था—'बिहारी क्लब' के एक माननीय सदस्य थे। दुर्गा पूजा, सरस्वती पूजा, छठ आदि अवसरों पर उस क्लब की ओर से पारसी नाटकों का मंचन पेट्रोमेक्स की रौशनी में किया जाता था। बाल्यावस्था में ही बाबूजी उनकी अंगुली पकड़कर उस क्लब के नाटकों के पूर्वाभ्यास में जाते थे। कलाकारों के बैठने के लिए दरी बिछाना, लालटेन साफ कर उसे जलाना, नाटकों में प्रॉम्पटिंग आदि करने की जिम्मेवारी बाबूजी के जिम्मे

ही निर्धारित किया गया था। अनुशासनप्रिय निर्देशक त्रिभुवन सिन्हा को पटना से नाट्य निर्देशन के लिए आमंत्रित किया जाता था। कलाकार की छोटी सी भूल पर भी वे अपने हाथ में लिए हंटर से प्रहार कर देते थे। जब वीर अभिमन्यु नाटक में उत्तरा की भूमिका के लिए कोई चरित्र नहीं मिला तब बाबूजी को उत्तरा की भूमिका दी गयी। यहीं से बाबूजी का नाटकों में फीमेल चरित्र में अभिनय का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। भूमिका करते हुए एक शब्द के गलत उच्चारण के लिए बाबूजी को निर्देशक त्रिभुवन सिन्हा के हंटर की मार भी झेलनी पड़ी थी। डी.एल. राय, हरेकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, रणधीर साहित्यालंकार, आदि नाटककारों के पारसी नाटकों का मंचन बिहारी क्लब की ओर से कई बार कर लिए गये तब बाबूजी ने लेखनी प्रारम्भ की। रामायण की कथा पर आधारित नाटक लिखा—'मेघनाद'। संस्था के वरिष्ठ कलाकारों ने नाटक पढ़कर प्रसन्नता व्यक्त की और सरस्वती पूजा के अवसर पर इसके मंचन की योजना बनाई। परिवर्तन, भयंकर भूत, मेवाड़ पतन, वीर अभिमन्यु, गरीब की दुनिया आदि जैसे कई नाटकों में फीमेल चरित्र में अभिनय करने के बाद अब बाबूजी की प्रोन्नति हो गयी थी—पुरुष चरित्र में अभिनय करने की। राम की भूमिका बाबूजी को प्रदान किए गये और लक्ष्मण की भूमिका उनके अनुज अर्थात् मेरे मंझले चाचा चक्रधर जी को दी गयी। खूब जोर-शोर से नाटक की तैयारी हुई। मंचन के दिन दर्शक-दीर्घा में अन्य वरिष्ठ लोगों के साथ सामने की पंक्ति में मेरे दादाजी अर्थात् मुंशी प्रयाग नारायण भी विराजमान थे। सभी लोग नाटक देख अभिभूत हो रहे थे। लक्ष्मण को शक्तिवाण लगने का दृश्य था। राम के साथ अन्य लोगों का कारुणिक विलाप शुरू हुआ। सभी लोग विलाप कर रहे थे। साथ ही दादाजी भी दर्शक-दीर्घा में बैठे विलाप कर रहे थे। उन्हें तो ज्ञात था कि राम और लक्ष्मण की भूमिकाओं में मेरे ही दोनों पुत्र अभिनय कर रहे हैं। दृश्य समाप्त होते ही वे आँसू पोछते पहुँच गये ग्रीन रूम में। मंझले चाचा का स्पर्श कर उन्होंने पूछा—'कहीं चोट तो नहीं लगी?' मंझले चाचा और बाबूजी ने उन्हें ढाढ़स दिलाया कि दृश्य को सजीव बनाने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। आप भ्रम में नहीं रहें। सब कुशल है।' बाबूजी ने उनसे अनुरोध किया कि आप आगे के दृश्य का आनन्द लेने के लिए दर्शकों के बीच जाकर बैठ जाएं। अखबारों में इस नाटक के सफल प्रदर्शन की खबरें छपीं। दूसरी संस्था के आयोजकों से इस स्क्रिप्ट की डिमाण्ड आने लगी। अर्थाभाव के कारण प्रकाशन करना अभी सम्भव नहीं था। प्रकाशन टालते रहे। लेकिन यह बात मन में अवश्य आयी कि इसका प्रकाशन भविष्य में कराया जाए।

बाबूजी का मत था कि कोई भी नाटक जब तक मंचित न हो तब तक वह नाटक की श्रेणी में नहीं कहा जाएगा। नाटक का अर्थ ही है रंगमंच, थिएटर। मंचन से दूर जैसे नाटक तो उपन्यास, कहानी, कविता, संस्मरण आदि की तरह ही पठनीय विधा बन कर रह जाएगा। प्रयोग के तौर पर इन दिनों कथा, कहानी, उपन्यास, कविता आदि साहित्यिक विधाओं को भी नाट्य रंग प्रदान कर विस्तार देने की परिपाटी बन गयी है। वे कहते थे नाट्य लेखन एक साहित्य है, प्रदर्शन की तैयारी के समय उसमें कई अन्य कलाओं (वस्त्र डिजाइनिंग, मेकअप, प्रकाश, सेट निर्माण, गीत, संगीत, स्पेशल इफेक्ट आदि) का समावेश होता है और नाट्य

प्रदर्शन होने पर वही नाटक विज्ञान की श्रेणी में परिवर्तित हो जाता है। अर्थात् नाटक में साहित्य, कला और विज्ञान तीनों तत्त्व मौजूद हैं।

बाबूजी की अल्पायु में ही भरे दादाजी (मुंशी प्रयाग नारायण) ने स्वेच्छा से मार्टिन रेलवे (छोटी लार्डन) के स्टेशन मास्टर पद से इस्तिफा दे दिया था। बड़े पूरे होने के कारण घर की सारी जवाबदेही बाबूजी के कंधों पर आ गयी। दो छोटे भाइयों की शिक्षा के साथ एक छोटी बहन की शादी भी करनी थी। नाटक प्रेम के कारण स्कूल में उनकी फीस माफ कर दी गयी थी। अच्छे अकों से मैट्रिक तक की पढ़ाई उन्होंने की। अर्थान्नाय के कारण कॉलेज में नामांकन कराना कठिन था। लंदन की एक एजेन्सी कैलेण्डर कम्पनी की ओर से बिहार शरीफ से लेकर नेउरा-सदीसापुर तक वीरान खेतों में बिजली के पोल स्थापित करने का कार्य किया जा रहा था। बाबूजी ने उस कम्पनी में नौकरी शुरू की। जार्ज साहब बड़े साहब थे जो ऐंग्लो इण्डियन थे। जाड़ा-गर्मी-बरसात में वीरान खेतों में कैम्प लगाया जाता था। दोनों साहब एक ही कैम्प में रहते थे। लगभग डेढ़ सौ मजदूरों के कार्यों पर पैनी दृष्टि रखना और उनकी उपस्थिति को ध्यान में रखना बाबूजी की ड्यूटी थी। जार्ज साहब अंग्रेजी के साथ टूटी-फुटी हिन्दी मिला कर मजदूरों से बात करते थे। अशिक्षित मजदूरों और जार्ज साहब के संवादों के बीच कड़ी का काम बाबूजी ही करते थे। शराब प्रेमी होने के कारण जार्ज साहब का महीने का वेतन पाँच सात दिनों में ही स्वाहा हो जाता था इसलिए वे वेतन को अपने पर्स में रखकर अपने तकिए के नीचे ही रखते थे। बक्स में उसे रखने की नीयत ही नहीं आती। गोहली होने पर काम से लौटकर मजदूरों का अपने गीत-संगीत से मनोरंजन होता। जार्ज साहब अपने प्रेमी शराब से रोज दिन गला तर करते और सो जाते। रात होने पर बाबूजी को लेखनी शुरू होती। कैम्प जीवन में ही उन्होंने अपना दूसरा नाटक लिखा- सिराजुद्दौला। काफ़ी रात होने पर वे सोते। मजदूरों के बीच ड्यूटी में भी वह काँपी उनके साथ होती। किसी पेड़ की छाया में अथवा कँए के निकट जहाँ भी उन्हें मौका मिलता नाट्य लेखन करते रहे। विदेशी चरित्र के संवाद को जीवन्त बनाने के लिए उन्होंने अपने बड़े साहब जार्ज साहब की भाषा को अपनाया। टूटी-फुटी हिन्दी के साथ अंग्रेजी शब्दों को मिश्रित किया। जार्ज साहब ने जब बाबूजी के साथ एक काँपी को हमेशा साथ पाया तब उन्होंने राज जानना चाहा। नाट्य लेखन की बात बता कर बाबूजी ने उन्हें नाटक के कुछ दृश्य पढ़ कर सुनाये। साहब खुश हुए। पीठ थपथपायी।

लेखन कार्य बाबूजी ने कभी भी कुरसी-टैबुल पर बैठ कर नहीं किया। रात में जब घर के लोग खा-पीकर सो जाते थे तब वे कहते-बैटा चटाई बिछाओ। पुस्तकें अपनी दाहिनी तरफ रखते। मैं एक खुशबुदार अगरबत्ती जला देता था। सबसे पहले वे पुराने लिखे गये अंशों को पढ़ते तब आगे लेखन कार्य करते। इस प्रकार लेखनकार्य में वे अपने को सहज महसूस करते थे। इस बीच में भी अपनी कोर्स की कित्तियों में खोया रहता। देर रात तक लिखते लिखते जब वे थक जाते थे और उनकी आँखें बोजिल होने लगती थी तब मैं ही उन्हें सोने के लिए अनुशोष करता था। वे भी कहते-ठीक है। चटाई उठाकर अपनी जगह रख दो। अब सोने जा रहा हूँ। सासे बिखरी चीजें व्यवस्थित करने से पूर्व मैं उनकी लेखनी को पढ़

लेता था। जानता था कि सुबह वे मेरी प्रतिक्रिया भी सुनना चाहेंगे। सुबह उठ कर प्रसन्नता से मैं अपने भाई-बहनों को बताता कि रात बाबूजी ने बाईं पूछ लिखा है। मेरा अनुज विनोद (कुमार शान्त रक्षित) की निगाहों से स्पष्ट झलकता कि मैं बाईं पूछ पहले पढ़ पाने में पीछे रह गया-भैया ने बाजी मार ली। प्रतिक्रिया स्वरूप थे। अगर कुछ शंका व्यक्त करता था सब दूसरे दिन आगे का लेखन वे करते को काट कर, पुनः लेखन करते। अपनी लेखनी पर की गयी सार्थक आलोचना का वे कभी बुरा नहीं मानते थे।

बनारस निवासी पारसी नाटककार, अभिनेता और निर्देशक शिवराम दास गुप्त से बाबूजी का पत्राचार हुआ। काशी में उनका एक प्रकाशन था-उपन्यास बहार ऑफिस। बाबूजी ने 'सिराजुद्दौला' नाटक के प्रकाशन हेतु अपनी पाण्डुलिपि उनके पास भेज दी। शिवराम दासगुप्त, बाबूजी की नयी शैली में रचित नाटक पढ़कर सतुष्ट हुए। छापने की स्वीकृति देने के साथ उन्होंने बाबूजी से भीरकसिम पर नाटक लिखने का सुझाव दिया। भीरकसिम से संबंधित उपलब्ध सामग्रियों वे बाबूजी को उपलब्ध कराते रहे। 'सिराजुद्दौला' नाटक तो उन्होंने अपनी देख-रेख में छापा लेकिन भीरकसिम नाटक छपने से पूर्व उनका निधन हो गया। लेकिन उनके पुत्र जगजीवन दासगुप्त ने अपने पिता के बचे कार्यों को पूरा किया और भीरकसिम नाटक प्रकाशित हुआ। उस देशभक्तिपूर्ण नाटक पर बाबूजी को उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से पुरस्कृत भी किया गया। उस समय किसी राज्य से पुरस्कृत होना सहज बात नहीं थी।

छात्र जीवन में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की लेखनी पढ़कर बाबूजी काफ़ी प्रभावित थे। 'राम-रहीम' उपन्यास की छवि उनके मानस पटल पर ऐसी अमिट बन गयी कि वे उनके दर्शन करने को उत्कण्ठित हुए। चाहते थे उनसे मिलकर अनुमति ली जाए और राम-रहीम का रंगमंचीय नाट्य रूपान्तर किया जाए। अब तक कई दफा मंचन करने के बाद बाबूजी का पहला नाटक भेवनाद छप चुका था। वे उस पुस्तक को लेकर राजा साहब के पटना आवास पर पहुँचे। किवाड़ खोलकर अन्दर से बरामदे पर एक सामान्य व्यक्ति आकर खड़े हो गये। बाबूजी ने कहा- 'मुझे राजा साहब से मिलना है।' उस सामान्य व्यक्ति ने उत्तर दिया- 'हाँ कहिए। मैं ही राजा राधिकारमण प्रसाद हूँ।' हलप्रभ हो बाबूजी ने एक कदम चुपके से पीछे खींच लिया। उनके मानस पटल पर राजा साहब की एक दूसरी छवि विद्यमान थी। बाबूजी के मौन और उनके चेहरे पर प्रश्नवाचक चिह्न देख राजा साहब ने जोर का ठहाका लगाया। बाबूजी से भेंट स्वरूप पुस्तक प्राप्त कर नाटक के एक दो डायलॉग उन्होंने पढ़ ली। उन्होंने टिप्पणी की- "मैं समझता था कि किसी बड़े बुजुर्ग ने ऐसे नाटक की रचना की है, लेकिन आप तो अत्यायु हैं। आपको जानते लोग जानेंगे और फिर ऐसा जानेंगे कि जाने नहीं देंगे।"

अध्यापक के कारण बाबूजी के लिए कॉलेज की पढ़ाई असम्भव थी। परिवार के भरण-पोषण के लिए स्कूल में नौकरी, ट्यूशन, कैलेण्डर कम्पनी के बाद बाबूजी को मार्टिन कम्पनी की ओर से बख्तियारपुर-राजगीर रेल खंड में १२ रुपये के वेतन पर टी.सी. की नौकरी मिली। रेलवे की परीक्षाएँ पास करते हुए बाबूजी ने टी.टी.ई., गार्ड, और बैच इन्वार्ज के पदों को भी सुशोभित किया। पढ़ने की लालक

से इसी रेल सेवा में रहकर उन्होंने प्राइवेट से आई.ए., बी.ए. और एम.ए. की परीक्षाएं पास की। 'कुँवर सिंह', 'अरावली का शेर', 'श्रीकृष्ण', 'कृष्णा कुमारी', 'कर्ण', 'कलिंग विजय' नाटकों की रचना की। केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी, राजस्थान सरकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय (संस्कृति), बिहार राजभाषा विभाग आदि से आर्थिक अनुदान प्राप्त कर उन्होंने समय-समय पर अपने नाटकों का प्रकाशन किया। रेल सेवा के दौरान ही सन् १९५२ ई. में बाबूजी अपने अन्तरंग मित्र भागवत प्रसाद श्रीवास्तव एवं अन्य रेल कर्मचारियों के सहयोग से मगध आर्टिस्ट्स (मगध कलाकार) नामक नाट्य संस्था की स्थापना की। यह संस्था बाबूजी की लेखनी के लिए एक प्रयोगशाला साबित हुई। उनका कहना था कि नाट्य लेखन के समय में लेखक होता है। चरित्र चित्रण के शब्द हृदय से निकलकर पृष्ठों पर अंकित होते हैं। नाटक की तैयारी के समय में एक आयोजक और निर्देशक बन जाता है। कहाँ-कहाँ लेखन में त्रुटियाँ रह गयीं, उन्हें दूर करने का प्रयास करता है। प्रकाशन के समय में एक व्यवसायी और पाठक की भूमिका निभाता है। नाट्य मंचन के पश्चात पुस्तक में उपलब्ध त्रुटियों को दूर कर ही उन्हें प्रकाशित करता है। उन्होंने जाना कि आयोजकों को महिला चरित्र मिलना कठिन होता है। इसलिए सरसता हेतु उन्होंने अपने नाटकों में एक या दो महिला चरित्रों का ही समावेश किया है। एम.ए. की परीक्षा देने जब बाबूजी राँची गये थे तब वहाँ के रंगकर्मियों ने उनसे मिलकर, बिना महिला पात्र के कोई ऐतिहासिक नाटक लिखने का अनुरोध किया था। लौटने पर उन्होंने बिना किसी महिला चरित्र के नाटक लिखा—'अरावली का शेर'। यह नाटक रंगकर्मियों के बीच इतना सफल हुआ कि लोग इस नाटक को अलग-अलग शीर्षक देकर कई बार मंचन करते रहे।

कई पत्रकार और बुद्धिजीवियों ने बाबूजी से प्रश्न किया कि आप ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों की रचना ही क्यों करते हैं? उनका सीधा सा जवाब होता—भारतीय इतिहास-पुराण में ऐसी कोई भी घटना या चरित्र नहीं हैं जो वर्तमान समय से अछूते हैं। आज भी मीरजाफर, मीरन, दुल्हासिंह जैसे भ्रष्ट लोग समाज में आस-पास देखने को मिल जाते हैं। मीरकासिम, टीपू सुल्तान, सिराजुद्दौला, कुँवर सिंह, राणा प्रताप जैसे देशभक्तों की कमी नहीं है। इतिहास-पुराण की घटनाएं, चरित्र आदि से आज भी हम प्रेरणा लेकर अपने समाज, राष्ट्र को सुदृढ़ बना सकते हैं। आज इतिहास को कोई व्यक्ति पढ़ना नहीं चाहता। उन्हें ऐतिहासिक घटनाएं बोझिल महसूस होती है। लेखन के क्रम में उपलब्ध सामग्रियों का अध्ययन कर मैं उक्त चरित्र अथवा घटनाओं की गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता हूँ। अनमोल मोतियों को एकत्रित कर एक खाका बनाता हूँ और तब लेखन का कार्य करता हूँ। उपन्यास, कहानी, नाटक कोई इतिहास नहीं होता। सुरुचिपूर्ण ढंग से इतिहास की घटनाओं पर आधारित कर लेखक उसे पाठकों, दर्शकों के बीच रखने का प्रयास करता है। कथाओं को जोड़ने के लिए और उसे मनोरंजक बनाने के लिए लेखक अपनी कल्पना का सहारा लेता है। लेकिन इतिहास-पुराण की आत्मा को वह सजीव बनाए रखता है। लेखन के समय गहन अध्ययन करने से मेरा तो ज्ञान बढ़ता ही है साथ ही लेखनी के माध्यम से मैं अशिक्षित जनता के समक्ष बोझिल ऐतिहासिक घटनाओं को प्रदर्शित करता हूँ। १९४७ ई. में आजादी मिलने के तीन वर्षों बाद मैंने 'कुँवर सिंह' नाटक लिखा। नाटक का पहला दृश्य क्रांतिकारी

पीरअली और पटना के क्रूर कमिश्नर विलियम टेलर का है। पहले ही दृश्य में पीरअली को फाँसी की सजा दे दी जाती है। लेकिन वह चरित्र ऐसा बन गया है कि नाटक खतम होने पर भी दर्शक उस चरित्र को भूल नहीं पाता। पीरअली के गौरवशाली चरित्र को बताने में इतिहासकारों ने काफी कंजूसी दिखायी है। कालान्तर में बिहार सरकार के सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग के अधिकारी गजानन प्रसाद और गणेश प्रसाद सिन्हा के कहने पर मैंने खोजबीन कर निकाला कि उस देशभक्त का संबन्ध बहावी आन्दोलन से भी रहा। दो दृश्य अलग से तैयार कर लिखा और उन्हें दिया। जब पीरअली नाटक की डिमाण्ड होने लगी तब मैंने अलग से दो-तीन सामाजिक चरित्र को जोड़कर नाटक आगे बढ़ाया। मगध कलाकार के उन्तीसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर १९८१ ई. में अजय के. सिन्हा के निर्देशन में यह नाटक भारतीय नृत्य कला मंदिर में मंचित किया गया। निर्देशक अजय के. सिन्हा ने पीरअली की भूमिका मुझसे ही कराई।

अपने जीवन के अन्त तक बाबूजी की इच्छा रही कि वे 'राम' पर एक पूर्णकालिक नाटक लिखें। प्रारम्भ में जब उन्होंने पूरा नाटक लिखा और शीर्षक देने लगे तब वह नाटक राम न होकर 'मेघनाद' बन गया। काफी समय बाद भी उन्होंने कोशिश की राम पर नाटक लिखने की। विभिन्न धर्मों में उपलब्ध लगभग ४७ धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। नाटक लिखा। शीर्षक देने में उनकी कलम फिर रुक गयी और वे 'राम' नहीं दे सके। लाचारवश उस नाटक का शीर्षक देना पड़ा—'रावण'। उस नाटक की नायिका सीता नहीं बन पायीं, बल्कि नीलमणि अर्थात् शूर्पणखा उसकी नायिका बन गयी जिसके कारण पूरी रामायण की घटना घटित हुई थी। इस नाटक में विभीषण पुत्र तरणी सेन के चरित्र को भी चित्रित किया गया है जो राम से युद्ध करता है और अपने लंका देश के लिए प्राणोत्सर्ग करता है। नाटक के अन्त में एक संवाद आया है—'राम! तुम समझते हो कि राम-रावण का युद्ध समाप्त हो गया। नहीं वीर, यह युद्ध कभी समाप्त नहीं होगा। हमारे तुम्हारे बीच का युद्ध तो तब से चल रहा है, जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। तुमने न्याय का प्रतिनिधि त्व किया और मैंने अन्याय का। तुमने सत्य का और मैंने असत्य का। सतयुग में भी हमदोनों लड़े थे। यह त्रेता है। इस युग में भी हमदोनों का युद्ध हुआ। मैं फिर जन्म लूँगा। द्वापर में फिर युद्ध होगा। सम्भव है, मैं पुनः पराजित हो जाऊँ। लेकिन मेरे रक्त में पुनर्जन्म का बीज वर्तमान है। यह नष्ट नहीं हो सकता। हमारा निर्णायक युद्ध होगा कलियुग में। हाँ, कलियुग में, जब मैं कोटि-कोटि व्यक्ति में वास करूँगा, हर मनुष्य में रावण रहेगा। उसकी माया को समझना किसी के लिए भी असम्भव होगा। देखना है कि राम उस समय किस रूप में अवतरित होता है। कोटि-कोटि रावण का वध एक राम से असम्भव होगा। कलियुग में तुम्हारे बल की असली परीक्षा होगी।' यह नाटक इतना सफल माना गया कि बिहार आर्ट थिएटर के मंच पर अनिल कुमार मुखर्जी ने अपने निर्देशन में इसका तीन महीने तक लगातार प्रदर्शन किया। प्रभावित होकर उन्होंने इस नाटक का बंगला भाषा में अनुवाद भी किया जिसका मंचन वे कोलकाता में करना चाहते थे। लेकिन, उनका असामयिक निधन के कारण यह सपना पूरा नहीं हो सका। पत्रकार डॉ. लक्ष्मी कांत सजल ने इस नाटक का मैथिली में अनुवाद किया जिसका प्रकाशन किया गया। राज्य सरकार के अधिकारी और मेरा अनुज कुमार शान्त रक्षित ने 'रावण' नाटक

का अनुवाद अंग्रेजी में किया जो अब तक अप्रकाशित है। तमिल और हिन्दी भाषा के सेतु रहे एम. गोविन्दराजन ने रावण नाटक का तमिल में अनुवाद कर चैन्नई में प्रकाशित किया। जीवन के अन्तिम क्षण में जब बाबूजी अस्पताल में एडमिट थे तब भी उनके चेहरे पर यह मलाल स्पष्ट देखने को मिल रहा था कि वे मर्यादापुरोधस राम पर कोई नाटक नहीं लिख सके। कुछ संकेत कर ईशारे में वे बता रहे थे राम पर नाटक नहीं लिख सका। उनकी आँखें भींगी होती और मैं अपने अनुज के साथ बगल में बैठ कर उनकी आँखें रूमाल से पोछता रहा।

चरित्र को ध्यान में रखकर ही बाबूजी कोई नाटक लिखते थे। काफी दिनों से वे दूँढ़ रहे थे तेईस वर्षीय लक्ष्मी बाई की भूमिका करने वाली महिला चरित्र को। १९६६ ई. में श्री अरविन्द महिला कॉलेज की राजनीति शास्त्र की प्रोफेसर श्रीमती लक्ष्मी देवी उस समय कैजुअल एनाउन्सर के रूप में आकाशवाणी आती थी। उन्होंने रानी की भूमिका करने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की। इसके बाद 'झांसी की रानी' नाटक का लेखन किया गया। मगध कलाकार के कलाकारों की ओर से १९७० ई. में इस नाटक का पहला प्रदर्शन श्रीचन्द उदासीन कॉलेज, हिलसा के सहायतार्थ किया गया। इसी तरह नूरजहाँ की भूमिका करने वाली महिला चरित्र की खोज वे वर्षों से करते रहे। जब एक पूर्व आई.सी.एस. अधिकारी की पुत्री देवयानी चौधरी ने इस चरित्र को करने की अपनी स्वीकृति प्रदान की तब 'नूरजहाँ' नाट्य लेखन किया गया और उस नाटक का मंचन प्रधानमंत्री बाढ़ राहत कोष के सहायतार्थ दानापुर, झांझा, मोगलसराय और गया में किया गया। मैंने जब से होश सम्भाला तब से कुँवर सिंह की भूमिका करते भगवान प्रसाद को ही देखा। जब भी सरकारी-गैर सरकारी योजनाओं के सहायतार्थ मगध कलाकार की ओर से नाटक का प्रस्ताव दिया जाता और कुँवर सिंह का नाम जोड़ा जाता भगवान बाबू का रोआं काँप जाता था। वे बाबूजी से अनुरोध करते थे कि दूसरा कोई भी नाटक प्रस्तावित कीजिए मैं करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन कुँवर सिंह नहीं कीजिए। मुझे काफी स्ट्रेन पड़ता है। सचमुच हरेक दृश्य के समापन पर वे थके-माँदे आकर कुर्सी पर निढाल हो चुनसुम बैठ जाते थे। कलाकारों में सबसे छोटा होने के कारण और उनके प्रति श्रद्धानत रहने के कारण मैं उन्हें पानी पिलाता, चाय पिलाता फिर उनके लिए संजोकर रखे पान का बीड़ा देता। अगला दृश्य जब प्रारम्भ होता तब वे कुल्ला कर नयी ऊर्जा के साथ स्टेज पर जाते थे। उनके निधन के बाद मगध कलाकार की ओर से कुँवर सिंह नाटक का मंचन बिल्कुल बंद हो गया।

बाबूजी का हृदय विशाल था। ऊँचे पद को सुशोभित करने के बाद भी हर उम्र के लोगों से मिलने पर उन्हें उचित सम्मान देते थे। पान की दुकान पर जाकर पान खाने और सिगरेट पीने में उन्हें एक अलग आनन्द मिलता था। अधीनस्थ कर्मचारी जब कहते थे- 'सर, आप अपने केबिन में बैठिए, मैं पान ला देता हूँ, तब उनका जवाब होता- 'बेवकूफ, पाँच बजने के बाद मैं कहीं का डायरेक्टर नहीं हूँ। एक सामान्य व्यक्ति हूँ। पान की दुकान पर पान खाने का मजा ही कुछ अलग है।' बाबूजी की सहृदयता से कभी कभी मुझे दुख भी होता था। बिना जाने समझे वे किसी को भी अपनी पुस्तक भेंट कर देते थे। मैं चिन्तित रहता था कि कोई विद्यार्थी अगर उनसे संदर्भ पुस्तक की मांग करेगा, तब वे कहाँ से देंगे। उनके लगभग सारे प्रकाशित नाटक प्रकाशकों के पास से आउट ऑफ स्टॉक हो चुके थे। मैंने नम्रता

पूर्वक उन्हें हिदायत दी कि आपकी पुस्तकों का एक अलग पैकेट बना कर मैंने आलमीरा में रख दिया है। बिना मुझे जानकारी दिए उसमें से कोई भी पुस्तक किसी को नहीं देंगे। छोटे बच्चे की तरह उन्होंने गर्दन हिला कर मेरी बात मान ली। जब भी कोई व्यक्ति मेरे आवास पर आता, वे उन्हें रोक लेते, चाय, नाश्ता और खाना व्यवस्था कर सकेगा। मेरे घर लौटने पर जब मैं आगन्तुक की इच्छा पूर्ति कर देता था, तभी उन्हें संतुष्टि मिलती थी।

घर में खाना खाते समय बाबूजी से उनकी अतीत की घटनाएं हमेशा सुनता था। उनसे अनुरोध करता था कि आप अपनी आत्मकथा लिखें जिसमें इन घटनाओं को विस्तार दें। वे मुस्कुराते हुए कहते—'लिखने की अब इच्छा नहीं होती। अस्वस्थता के कारण रिथर होकर बैठना कठिन है।' मैं उनकी परेशानी को भांप रहा था। कहा—'आप डिक्टेसन दें, मैं स्टेनो बन कर उन घटनाओं को लिखूंगा।' काफी दिन उनके पीछे पड़ने के बाद २४ सितम्बर १९६६ ई. से वे एक-एक घटना मुझे डिक्टेट करते रहे और मैं उन्हें सन् २००६ ई. तक कलमबद्ध कर कम्प्यूटर पर डालता रहा। दो-चार दिन बीच कर काफी आरजू-मिन्नत करने पर वे दो-तीन पृष्ठ डिक्टेट करते थे। जब कम्प्यूटर में लगभग २०० पृष्ठ सुरक्षित हो गये तब मैंने उनसे इसके प्रकाशन का अनुरोध किया। इस बीच सीनियर फेलोशिप प्राप्त करते हुए वे 'नाट्य शिल्प विज्ञान' नामक पुस्तक की तैयारी में लगे रहे। अनुरोध करता रहा आत्मकथा पर एक सरसरी निगाह डालने के लिए। लेकिन इतना कर पाना उनके लिए असम्भव था। नारद पर ९५ पूर्णकालिक नाटक लिखने के लिए उन्होंने पर्याप्त सामग्री एकत्रित कर ली थी। लेकिन बीच-बीच में कहते थे—'किसके लिए लिखूँ? इसकी क्या उपयोगिता होगी? नाटक के प्रति युवाओं का झुकाव कम होता जा रहा है। बिना किसी परिश्रम के रातों-रात लोग स्टार बनना चाहते हैं। लेकिन बिना परिश्रम के आज तक किसी को कुछ भी नहीं मिला। अमिताभ बच्चन, राजकपूर या और भी बड़े लोग—सभी को पहली सीढ़ी से ही संघर्ष करना पड़ा था।' नारद पर पूर्णकालिक नाटक वे लिख नहीं सके। लेकिन लेखन-कीड़ा भी उन्हें हमेशा परेशान करता रहा। इस बीच तीन ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना उन्होंने कर डाली—'समुद्र का पक्षी', 'राजदर्शन' और 'तथागत'। कमिश्नर विलियम टेलर की दो खंडों में इंग्लैण्ड में प्रकाशित लोकप्रिय पुस्तक 'माई थर्टीएट इयर्स इन इण्डिया' को एब्रीज्ड कर ३१४ पृष्ठों में सम्पादन किया। अस्वस्थता के कारण वे आगे कुछ लिख नहीं सके।

११ अगस्त २००६ ई. को बाबूजी ने अपने परिजनों और हिन्दी रंगमंच को, जो उनकी प्रतिष्ठा बनी रही थी, अलविदा कह दिया और प्रस्थान कर गये अनन्त दिशा की ओर, जहाँ से लौट पाना किसी के लिए भी असम्भव है। बाबूजी की आत्मकथा की पाण्डुलिपि को करीने से सम्पादन करने के बाद आत्मकथा पुस्तक 'मेरी रंगयात्रा' शीर्षक से सन् २०१० ई. में मैंने दिल्ली से प्रकाशित कराया। इससे पूर्व उन्होंने अपनी देख-रेख में अपने सभी रंगमंचीय नाटकों का तीन खंडों में संकलन 'डॉ. चतुर्भुज रचनावली' के नाम से दिल्ली से प्रकाशित कराया था।